जैन दर्शन में नैतिक मूल्याङ्कन का विषय

कर्त्ता का प्रत्येक कर्म जो नैतिक मूल्याङ्कन का विषय बनता है, किसी हेतु से अभिप्रेरित होकर प्रारम्भ होता है और अन्त में किसी परिमाण को निष्पन्न कर परिसमाप्त होता है। इस प्रकार कार्य का विश्लेषण हमें यह बताता है कि प्रत्येक कार्य में एक हेतु (उद्देश्य) होता है, जिससे कार्य का प्रारम्भ होता है और एक फल होता है जिसमें कार्य की परिसमाप्ति होती है। दूसरे शब्दों में हेतु को कार्य का मानसिक पक्ष और फल को उसका भौतिक परिणाम कहा जा सकता है। हेतु का निकट सम्बन्ध कर्ता के मनोभावों से है, जबकि फल का निकट सम्बन्ध कर्म से है। हेतु पर दिया निर्णय वस्तुत: कर्ता के सम्बन्ध में होता है जबकि फल पर दिया हुआ निर्णय वस्तुत: कर्म के सम्बन्ध में होता है। नीतिज्ञों के लिए यह प्रश्न विवाद का रहा है कि कार्य के शुभत्व एवं अशुभत्व का मूल्याङ्कन उसके हेतु के सम्बन्ध में किया जाए या उसके फल के सम्बन्ध में, क्योंकि कभी-कभी शुभत्व एवं अशुभत्व की दृष्टि से हेतु और फल परस्पर भिन्न पाए जाते हैं— शुभ हेतु में भी अशुभ परिणाम की निष्पत्ति और अशुभ हेतु में भी शुभ परिणाम की निष्पत्ति देखी जा सकती है। यद्यपि ग्रीन यह मानते हैं कि शुभेच्छा या शुभ हेतु से किया गया कार्य सर्वदा शुभ परिणाम देने वाला होता है, लेकिन जागतिक अनुभव हमें यह बताता है कि कभी-कभी कर्त्ता द्वारा अनपेक्षित कर्म-परिणाम भी प्राप्त हो जाते हैं और अनपेक्षित कर्म-परिणाम को परिणाम मानने पर ग्रीन की कर्म के उद्देश्य और फल में एकरूपता की धारणा टिक नहीं पाती है। यदि कार्य के हेतु और कार्य के वास्तविक परिणाम में एकरूपता नहीं हो तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इनमें से किसे नैतिक निर्णय का बिषय बनाया जाये। पाश्चात्य नैतिक चिन्तन में इस समस्या को लेकर स्पष्टतया दो प्रमुख मतवादों का निर्माण हुआ है, जो फलवाद और हेतुवाद के नाम से जाने जाते हैं। फलवादी धारणा का प्रतिनिधित्व बेन्थम और मिल करते हैं। बेन्थम की मान्यता में हेतुओं का अच्छा या बुरा होना उनके परिणामों पर निर्भर है। मिल की दृष्टि में 'हेतु' के सम्बन्ध में विचार करना यह नैतिकता का प्रश्न ही नहीं है, उनका कथन है कि हेतु को कार्य की नैतिकता से कुछ भी करना नहीं होता।[१] दूसरी ओर हेतुवादी परम्परा का प्रतिनिधित्व कांट, बटलर आदि करते हैं। मिल के ठीक विपरीत कांट का कहना है कि "हमारी क्रियाओं के परिणाम उनको नैतिक मूल्य नहीं दे सकते।"[२] बटलर कहते हैं कि किसी कार्य कि अच्छाई या बुराई बहुत अधिक उस हेतु पर निर्भर है जिससे वह किया जाता है।"[३] इस प्रकार हम देखते हैं कि नैतिक निर्णय के विषय को लेकर स्पष्ट रूप से दो दृष्टिकोण हैं— १. फलवाद की दृष्टि में नैतिक निर्णय कृत्य के सम्बन्ध में होते हैं, २. जबकि हेतुवाद की दृष्टि में नैतिक निर्णय का सम्बन्ध कर्ता से होता है। फलवाद की दृष्टि में परिणाम ही नैतिक मूल्य रखते हैं। फलवाद सारा बल कार्य के उस वस्तुनिष्ठ तत्त्व पर, जो वास्तव में क्रिया है, देता है। उसके अनुसार नैतिकता का अर्थ ऐसे परिणामों को उत्पन्न करना है, जिससे जन साधारण के कल्याण में अभिवृद्धि हो। फिर भी यहाँ हमें इस सम्बन्ध में स्पष्ट हो जाना चाहिए कि पाश्चात्य फलवाद की दृष्टि में नैतिक मूल्याङ्कन के लिए परिणाम की भौतिक परिनिष्पत्ति उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी की परिणाम की वांछितता अथवा परिणाम का अग्रावलोकन। बेंथम और मिल भी यह नहीं कहते कि यदि किसी सर्जन द्वारा किये गये आपरेशन से रोगी की मृत्यु हो जाए तो उसका कार्य निन्दनीय है; यदि सर्जन का वांछित परिणाम या अग्रावलोकित परिणाम आपरेशन के द्वारा उसकी जीवन रक्षा करना था तो उसका वह कार्य नैतिक दृष्टि से उचित ही था चाहे वह उसमें सफल नहीं हुआ हो। किन्तु मिल एवं बेन्थम के अनुसार इस बात से सर्जन की नैतिकता में कोई अन्तर नहीं पड़ता कि उसने वह कार्य धनार्जन के लिए किया अथवा अपनी प्रतिष्ठा के लिए किया अथवा दया से प्रेरित होकर किया। फलवाद के अनुसार धन, यश और दया के प्रेरक तत्त्व नैतिक मूल्याङ्कन की दृष्टि से कोई अर्थ नहीं रखते। इस धारणा के विपरीत हेतुवाद में सङ्कल्प अथवा प्रेरक ही नैतिक मूल्य रखते हैं। हेतुवाद के अनुसार यदि प्रेरक अशुभ था, तो कार्य भी अशुभ ही माना जायेगा। यदि कोई डाक्टर किसी सुन्दर स्त्री की जीवन-रक्षा इस भाव से प्रेरित होकर करता है कि वह उसे अपनी वासनापूर्ति का साधन बनाएगा, तो हेतुवाद की दृष्टि में परिणाम के शुभ होने पर भी डाक्टर का वह कार्य नैतिक दृष्टि से अशुभ ही होगा। इस प्रकार पाश्चात्य नैतिक विचारणा में ये दोनों वाद कार्य के दो भिन्न सिरों पर अनावश्यक बल देकर एकपक्षीय धारणा का विकास करते हैं। हेतुवाद के लिए कार्य का आरम्भ ही सब कुछ है, जबकि फलवाद के लिए कार्य का अन्त ही सब कुछ बन गया है। ये विचारक यह भूल जाते हैं कि आरम्भ और अन्त अन्ततोगत्वा सिक्के के दो पहलुओं के समान कार्य के ही दो पहलू हैं, जिन्हें अलग-अलग देखा जा सकता है, लेकिन किया नहीं जा सकता। इन विचारकों की भ्रान्ति यह नहीं है, कि इन्होंने कार्य के इन दो पहलुओं पर गहराई से विचार नहीं किया, वरन् भ्रान्ति यह है, कि इन्होंने इन्हें अलग-अलग करने का असफल प्रयास किया। जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अङ्गों को अलग-अलग करके उसे ठीक रूप से समझा नहीं जा सकता उसी प्रकार कर्म-प्रेरक को कर्म-परिणाम से और कर्म-परिणाम को कर्म-प्रेरक से अलग करके ठीक रूप से समझा नहीं जा सकता। यही उनके सिद्धान्तों की अपूर्णता थी। भारतीय चिन्तन में भी कर्म-परिणाम और कर्म-हेतु पर विचार तो हुआ लेकिन उसमें इतनी एकाङ्गिता कभी नहीं आई। आइए भारतीय सन्दर्भ में इस समस्या पर विचार करें।

पाश्चात्य आचार-विज्ञान का यह विवादात्मक प्रश्न भारतीय नैतिक चिन्तना के प्रारम्भिक युग से ही विवाद का विषय रहा है। यद्यपि इस सम्बन्ध में भारत में उतनी बाल की खाल नहीं उतारी गई, जितनी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पश्चिम में। जैनागम सूत्रकृताङ्ग में बौद्ध-विचारणा की हेतुवाद सम्बन्धी धारणा का रोचक उपहास प्रस्तुत किया गया है। बौद्धागम मज्झिमनिकाय में भी बुद्ध ने स्वयं को हेतुवाद का समर्थक माना है और निर्ग्रन्थ (जैन) परम्परा को फलवाद का समर्थक बताया है। यद्यपि निर्ग्रन्थ परम्परा को एकान्ततः फलवादी मानना एक असङ्गत धारणा है; क्योंकि पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती जैनागमों में हेतुवाद का भी प्रबल समर्थन किया गया है, जिस पर प्रमाणपूर्वक थोड़ी गहराई से विचार करना आवश्यक है।

यह तो निर्विवाद सत्य है कि बौद्धदर्शन हेतुवाद का समर्थक है। बौद्ध विचारणा नैतिक मूल्याङ्कन की दृष्टि से कर्ता के हेतु अथवा कार्य के मानसिक प्रत्यय को ही प्रमुखता देती है। धम्मपद के प्रारम्भ में ही बुद्ध कहते हैं— "सभी प्रकार के शुभाशुभ आचरण में मानसिक व्यापार (हेतु) ही प्राथमिक हैं, मन की दुष्टता और प्रसन्नता अर्थात् मन के भले-बुरे होने पर ही कर्म भी शुभाशुभ हुआ करते हैं, और उसी से सुख-दुःख मिलता है। (धम्मपद १.२)। यहीं नहीं मज्झिमनिकाय में एक और प्रबल प्रमाण है, जहाँ बुद्ध कर्म के मानसिक प्रत्यय की प्रमुखता के आधार पर ही बौद्ध परम्परा और निर्ग्रन्थ परम्परा में अन्तर भी स्थापित करते हैं। बुद्ध कहते हैं"— मैं (निग्रन्थों के) काय-दण्ड, वचन-दण्ड और मनो-दण्ड के बदले काय-कर्म, वचन-कर्म और मनस्-कर्म कहता हूँ और निर्ग्रन्थों की तरह काय-कर्म (कर्म के बाह्य स्वरूप) की नहीं, वरन् मनस्-कर्म (कर्म के मानसिक प्रत्यय) की प्रधानता मानता हूँ।[४]

जैनागम सूत्रकृताङ्ग भी इस तथ्य का समर्थन करता है कि बौद्ध परम्परा हेतुवाद की समर्थक है। ग्रन्थकार ने बौद्ध हेतुवाद का उपहासात्मक चित्र प्रस्तुत किया है। सूत्रकार प्रव्रज्या ग्रहण करने को तत्पर आर्द्रक कुमार के सम्मुख एक बौद्ध श्रमण के द्वारा ही बौद्ध दृष्टिकोण को निम्न शब्दों में प्रस्तुत करवाते हैं —

"खोल के पिण्ड को मनुष्य जानकर भाले से छेद डाले और उसको आग पर सेके अथवा कुमार जानकर तूमड़े को ऐसा करे तो हमारे मत के अनुसार प्राणिवध का पाप लगता है। परन्तु खोल का पिण्ड मानकर कोई श्रावक मनुष्य को भाले से छेदकर आग पर सेकें अथवा तूमड़ा मानकर कुमार को ऐसा करे तो हमारे मत के अनुसार उसको प्राणिवध का पाप नहीं लगता है"।[५]

मज्झिमनिकाय और सूत्रकृताङ्ग के उपरोक्त सन्दर्भो के आधार पर यह सिद्ध होता है कि बौद्ध नैतिकता हेतुवाद का समर्थन करती है, दूसरे शब्दों में उसके अनुसार कर्म की शुभाशुभता का आधार कर्ता का आशय है, न कि कर्म परिणाम। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सैद्धान्तिक दृष्टि से हेतुवाद का समर्थन करते हुए भी व्यवहारिक रूप में बौद्ध नैतिकता फलवाद की अवहेलना नहीं करती। विनयपिटक में ऐसे अनेकों प्रसङ्ग हैं जहाँ कर्म के हेतु को महत्त्व नहीं देकर मात्र कर्म-परिणाम के लोक-निन्दनीय होने के आधार पर ही उसका आचरण भिक्षुओं के लिए अविहित ठहराया गया है। भगवान् बुद्ध के लिए कर्म-परिणाम का अग्रावलोकन उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना कि वह मिल और बेन्थम के लिए है।

जहाँ तक गीता की विचारणा का प्रश्न है, अपने आचार-दर्शन में वह भी हेतुवाद का समर्थन करती है। गीताकार की दृष्टि में भी कर्म के नैतिक मूल्याङ्कन का आधार कर्म का परिणाम न होकर उसका हेतु ही है। गीता का निष्काम कर्मयोग का सिद्धान्त "कर्मपरिणाम" की अपेक्षा कर्म-हेतु पर ही अधिक बल देता है। गीता में जिस आधार पर अर्जुन के लिए युद्ध के औचित्य का समर्थन किया गया है उसमें कर्म-हेतु को ही प्रमुखता दी गई है, कर्म-परिणाम को नहीं। गीता में कृष्ण स्पष्ट रूप से कहते हैं— "हे अर्जुन! अमुक कर्म का यह फल मिले यह बात (मन में) रखकर कर्म करने वाला न हो।"[६] कार्य के परिणाम पर दृष्टि रखकर आचरण करना गीताकार को अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि वह तो कर्म-फल पर व्यक्ति का अधिकार ही नहीं मानता है। गीताकार की दृष्टि में कर्मफल पर दृष्टि रखकर आचरण करने वाले कृपण अर्थात् दीन या निचले दर्जे के हैं।[७] बालगङ्गाधर तिलक भी गीता के आचार-दर्शन को हेतुवाद का समर्थक मानते हैं, उनके अनुसार कर्म के बाह्य-परिणाम के आधार पर नैतिक निर्णय देना असङ्गत है। वे लिखते हैं— कर्म छोटे या बड़े हों या बराबर हों उनमें नैतिक दृष्टि से जो भेद हो जाता है, वह कर्ता के हेतु के कारण ही हुआ करता है। गीता में भगवान् ने अर्जुन से कुछ यह सोचने को नहीं कहा, कि युद्ध करने से कितने मनुष्यों का कल्याण होगा और कितने लोगों की हानि होगी; बल्कि अर्जुन से भगवान् यही कहते हैं; इस समय यह विचार गौण है कि तुम्हारे युद्ध करने से भीष्म मरेंगे या द्रोण। मुख्य प्रश्न यही है कि तुम किस बुद्धि (हेतु या उद्देश्य) से युद्ध करने को तैयार हुए हो, यदि तुम्हारी बुद्धि स्थित-प्रज्ञों के समान शुद्ध होगी और यदि तुम उस पवित्र बुद्धि से अपना कर्तव्य करने लगोगे तो फिर चाहे भीष्म मरे या द्रोण; तुम्हें उसका पाप नहीं लगेगा।[८] गीता काँट के समान सङ्कल्प को ही समस्त कार्यों का मूल मानती है। गीता-शाङ्करभाष्य में कहा गया है "सभी कामनाओं का मूल सङ्कल्प है।"[९] आचार्य शङ्कर ने मनुस्मृति (२/३) तथा महाभारत से उद्धरण देकर भी इसे सिद्ध किया है। महाभारत के शान्तिपर्व में कहा गया है, 'हे काम! मैं तेरे मूल को जानता हूँ, तू निस्संदेह "सङ्कल्प" से ही उत्पन्न होता है, मैं तेरा सङ्कल्प नहीं करूँगा, अतः फिर तू मुझे प्राप्त नहीं होगा।[१०]

यद्यपि अर्जुन के लिए युद्ध के औचित्य का समर्थन करते समय गीता कर्म के नैतिक मूल्याङ्कन के लिए बाह्य परिणाम पर विचार करने की दृष्टि को ओझल कर देती है और ऐसा प्रतीत होता है कि गीता एकान्त हेतुवाद का समर्थन करती है। लेकिन यदि गीता के समग्र स्वरूप को दृष्टिगत रखते हुए विचार किया जाए तो हमें अपनी इस धारणा के परिष्कार के लिए विवश होना पड़ता है। यदि गीता की दृष्टि में कर्म का बाह्य परिणाम अपना कोई नैतिक मूल्य नहीं रखता है तो फिर गीता के कर्मयोग और लोकसंग्रह के हेतु कर्म करते रहने के उपदेश का कोई अर्थ नहीं रह जाता। चाहे कृष्ण ने अर्जुन के द्वारा प्रस्तुत युद्ध के परिणाम स्वरूप कुलक्षय और वर्ण-सङ्करता की

Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

उत्पत्ति के विचार की एक बारगी उपेक्षा कर दी हो, लेकिन अन्त में उन्हें स्वयं ही यह स्वीकार करना पड़ा कि "यदि मैं कर्म न करूँ तो यह लोक भ्रष्ट हो जाए और मैं वर्णसङ्कर का करने वाला होऊं तथा इस सारी प्रजा का मारने वाला बनूँ।" क्या यह कृष्ण की फल दृष्टि नहीं है? स्वयं तिलकजी भी गीता-रहस्य में इसे स्वीकार करते हैं, उनके शब्दों में गीता यह कभी नहीं कहती कि बाह्य कर्मों की ओर कुछ भी ध्यान न दो। किसी मनुष्य की विशेषकर अनजाने मनुष्य की बुद्धि की समता की परीक्षा करने के लिए यद्यपि केवल उसका बाह्य कर्म या आचरण, प्रधान साधन है; तथापि केवल इस बाह्य आचरण द्वारा ही नीतिमत्ता की अचूक परीक्षा हमेशा नहीं हो सकती।[११] इस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से गीता हेतुवाद की समर्थक होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से कर्म के बाह्य परिणाम की उपेक्षा नहीं करती है। गीता कर्मफलाकांक्षा का या कर्मफलासक्ति का निषेध करती है, न कि कर्म-परिणाम के अग्रावलोकन या पूर्व विचार का। यह ठीक है कि उसकी दृष्टि में शुभाशुभत्व के निर्णय का विषय कर्म-सङ्कल्प है।

अब यदि कार्य के मानसिक हेतु और भौतिक परिणाम में कौन नैतिक मूल्याङ्कन का विषय है? इस समस्या पर जैन दृष्टि से विचार करें, तो हम पाते हैं कि जैन दृष्टिकोण ने इस समस्या के निराकरण का समुचित प्रयास किया है। जैन दृष्टि एकाङ्गी मान्यताओं की विरोधी रही है और यही कारण है कि प्रथमतः उसने हेतुवाद की एकाङ्गी मान्यता का खण्डन किया है।

जैनागम सूत्रकृताङ्ग में हेतुवाद का जो खण्डन किया गया है वह एकाङ्गी हेतुवाद का है। जैन दार्शनिकों द्वारा किए गए हेतुवाद के खण्डन के आधार पर उसे फलवादी परम्परा का समर्थक मान लेना स्वयं में सबसे बड़ी भ्रान्ति होगी। जैन चिन्तकों द्वारा हेतुवाद का फलवाद से भी अधिक समर्थन किया गया है, जिसे अनेक तथ्यों से परिपुष्ट किया जा सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार में, आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा की वृत्ति में तथा आचार्य विद्यानन्दी की अष्टसहस्री टीका में फलवाद का खण्डन और हेतुवाद का मण्डन पाया जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि "हिंसा का अध्यवसाय अर्थात् मानसिक हेतु ही बंधन का कारण है, चाहे बाह्य रूप में हिंसा हुई हो या न हुई हो।[१२] वस्तु (घटना) नहीं वरन् सङ्कल्प ही बन्धन का कारण है।[१३] दूसरे शब्दों में बाह्य रूप में घटित कर्म-परिणाम नैतिक या अनैतिक नहीं है, वरन् व्यक्ति का कर्म-सङ्कल्प या हेतु ही नैतिक या अनैतिक होता है। इसी सन्दर्भ में आचार्य समन्तभद्र और विद्यानन्दी के दृष्टिकोणों का उल्लेख सुशीलकुमार मैत्रा और यदुनाथ सिन्हा ने भी किया है।[१४] जैन दार्शनिक समन्तभ्रद बताते हैं कि कार्य का शुभत्व केवल इस तथ्य में निहित नहीं है कि उससे दूसरों को सुख होता है और स्वयं को कष्ट होता है। इसी प्रकार कार्य का अशुभत्व इस बात पर निर्भर नहीं करता कि उसकी फल-निष्पत्ति के रूप में दूसरों को दुःख होता है और स्वयं को सुख होता है। क्योंकि यदि शुभ का अर्थ दूसरों का सुख और अशुभ का अर्थ दूसरों का दुःख हो तो हमें अचेतन जड़ पदार्थ और वीतराग संत को भी बन्धन में मानना पड़ेगा, दूसरे शब्दों में उन्हें नैतिकता की परिसीमा में मानना होगा, क्योंकि उनके क्रिया-कलाप भी किसी के सुख और दुःख के कारण तो बनते ही हैं और ऐसी दशा में उन्हें शुभाशुभ का बन्ध भी होगा ही। दूसरे यदि शुभ का अर्थ स्वयं का दुःख और अशुभ का अर्थ स्वयं का सुख हो तो वीतराग तपस्या के द्वारा शुभ का बन्ध करेगा एवं ज्ञानी आत्मसंतोष की अनुभूति करते हुए भी अशुभ या पाप का बन्ध करेगा।

अतः यह सिद्ध होता है कि स्वयं का अथवा दूसरों का सुख अथवा दुःख रूप परिणाम शुभाशुभता का निर्णायक नहीं हो सकता, वरन् उसके पीछे रहा हुआ कर्ता का शुभाशुभ प्रयोजन ही किसी कार्य के शुभत्व और अशुभत्व का निश्चय करता है।

अष्टसहस्री में आचार्य विद्यानन्दी फलवाद या कर्म के बाह्य परिणाम के आधार पर नैतिक मूल्याङ्कन करने की वस्तुनिष्ठ पद्धति का विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि किसी दूसरे के हिताहित के आधार पर पुण्य-पाप का मूल्याङ्कन नहीं किया जा सकता, क्योंकि कुछ तत्त्व तो पुण्य-पाप के इस माप से नीचे हैं, जैसे जड़ पदार्थ और कुछ पुण्य-पाप के इस माप के ऊपर हैं, जैसे अर्हत्। पुण्य-पाप के क्षेत्र में अपनी क्रियाओं के आधार पर वे ही लोग आते हैं जो वासनाओं से युक्त हैं। दूसरे शब्दों में बन्धन के हेतुरूप में वासना ही सामान्य तत्त्व है। अतः मात्र किसी को सुख देने या दुःख देने से कोई कार्य पुण्य-पाप नहीं होता वरन् उस कार्य के पीछे जो वासना है, वही कार्य को शुभाशुभ बनाती है। अर्हत् की वीतरागता के कारण किसी को सुख या दुःख तो हो सकता है, लेकिन उसकी अपनी कोई वासना या प्रयोजन नहीं है, अतः उसे पुण्य-पाप का बन्ध नहीं होता है।

निष्कर्ष यह है कि जैन दृष्टि के अनुसार भी कर्ता का प्रयोजन या अभिसंधि ही शुभाशुभत्व की अनिवार्य शर्त है, न कि मात्र सुख-दुःख के परिणाम।

भारतीय दर्शन के अधिकारी विद्वान् श्री यदुनाथ सिन्हा भी जैन नैतिक विचारणा को इसी रूप में देखते हैं, वे लिखते हैं कि "जैन आचार दर्शन कार्य के परिणाम (फल) से व्यतिरिक्त उसके हेतु की शुद्धता पर ही बल देता है। उसके अनुसार यदि कार्य किसी शुद्ध प्रयोजन से किया गया है तो वह शुभ ही होगा, चाहे उससे दूसरों को दुःख क्यों नहीं पहुँचा हो। कार्य यदि अशुभ प्रयोजन से किया गया है तो अशुभ ही होगा, चाहे परिणाम के रूप में उससे दूसरों को सुख हुआ हो।"[१५] श्री सुशीलकुमार मैत्रा भी लिखते हैं— "शुभाशुभ का विनिश्चय बाह्य परिणामों पर नहीं वरन् कर्ता के आत्मगत प्रयोजन की प्रकृति के आधार पर करना चाहिए।"[१६] तुलनात्मक दृष्टि से अपने-अपने हेतुवाद के समर्थन में जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों में अद्भुत साम्य परिलक्षित होता है। हम विषय की गहराई में प्रवेश नहीं करते हुए मात्र तुलना की दृष्टि से धम्मपद और गीता के एक श्लोक को प्रस्तुत करेंगे। जैन ग्रन्थ पुरुषार्थसिद्धयुपाय में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं— "रागादि से रहित अप्रमाद युक्त आचरण करते हुए यदि प्राणाघात हो जाए तो वह हिंसा नहीं है अर्थात् ऐसा व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निष्पाप होकर बन्धन में नहीं आता।"[१७] बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद में कहा गया है— "माता, पिता, दो क्षत्रिय राजा एवं अनुचरों सहित राष्ट्र का हनन करने पर भी वीततृष्ण ज्ञानी (ब्राह्मण) निष्पाप ही होता है।"[१८] गीता कहती है— जिसमें आसक्ति और कर्तृत्व भाव नहीं है वह इस समग्र लोक को मारकर भी न तो मारता है और न बन्धन में आता है।" वस्तुत: ऐसी हिंसा हिंसा नहीं है।[१९] यद्यपि समालोच्य आचार दर्शनों में इतनी वैचारिक एकरूपता है फिर भी जहाँ तक गीता और जैनाचार दर्शन का प्रश्न है इस एकरूपता के होते हुए भी एक अन्तर है और वह अन्तर यह है कि गीता के अनुसार स्थित-प्रज्ञ अवस्था में रहकर हिंसा की जा सकती है जबकि जैन विचारणा कहती है कि इस अवस्था में रहकर हिंसा की नहीं जा सकती है, मात्र वह हो जाती है।

प्रश्न होता है कि यदि जैन चिन्तन को प्रयोजन या हेतुवाद स्वीकार्य है तो फिर उसे हेतुवाद के समर्थक बौद्धदर्शन का उपहास करने या उसकी आलोचना करने का क्या अधिकार रह जाता है। लेकिन वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। यदि जैन चिन्तकों को केवल हेतुवाद स्वीकार्य होता तो वे बौद्ध दार्शनिकों का उपहास नहीं करते। जैन विचारणा सैद्धान्तिक दृष्टि से हेतुवाद का विरोध नहीं करती है, उसका विरोध उस एकाङ्गी हेतुवाद से है जिसमें व्यवहार की अवहेलना की जाती है। एकाङ्गी हेतुवाद में जैन विचारणा ने जो सबसे बड़ा खतरा देखा, वह यह था कि एकाङ्गी हेतुवाद नैतिक मूल्याङ्कन की वस्तुनिष्ठ कसौटी को समाप्त कर देता है, फलस्वरूप हमारे पास दूसरे के कार्यों का नैतिक मूल्याङ्कन या माप करने की कोई कसौटी ही नहीं रह जाती है। यदि अभिसंधि या कर्ता का प्रयोजन ही हमारे कर्मों की शुभाशुभता का एकमात्र निर्णायक है, तो फिर कोई भी व्यक्ति दूसरे के आचरण के सम्बन्ध में कोई भी नैतिक निर्णय नहीं दे सकेगा, क्योंकि कर्ता का प्रयोजन जो कि एक वैयक्तिक तथ्य है, दूसरे के द्वारा जाना नहीं जा सकता है। दूसरे व्यक्ति के आचरण के सम्बन्ध में तो नैतिक निर्णय उसके कार्य के बाह्य परिणाम के आधार पर ही दिया जा सकता है। साथ ही लोग बाह्य रूप से अनैतिक आचरण करते हुए भी यह कहकर कि उसमें हमारा प्रयोजन शुभ था, स्वयं के नैतिक या धार्मिक होने का दम्भ कर सकते हैं। स्वयं महावीर के युग में भी बाह्य रूप में अनैतिक आचरण करते हुए, अनेक व्यक्ति स्वयं को धार्मिक या नैतिक होने का दम्भ करते थे। यही कारण था कि सूत्रकृताङ्ग में महावीर को यह कहना पड़ा कि "मन से सत्य को समझते हुए भी बाहर से दूसरी बातें करना क्या यह संयमी पुरुषों का लक्षण है?"[२०] हेतुवाद का सबसे बड़ा दोष यही है कि उसमें नैतिकता का दम्भ पनपता है। दूसरे एकान्त हेतुवाद में मन और कर्म की एकरूपता का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। हेतुवाद यह मान लेता है कि कार्य के मानसिक पक्ष और उसके परिणामात्मक पक्ष में एकरूपता आवश्यक नहीं है, दोनों स्वतन्त्र हैं, उनमें एक प्रकार का द्वैत है। जबकि सच्चे नैतिक जीवन का अर्थ है, मनसा वाचा कर्मणा व्यवहार की एकरूपता।[२१] नैतिक जीवन की पूर्णता तो मन और कर्म के पूर्ण सामञ्जस्य में है। यह ठीक है कि कभी-कभी कर्म के कर्ता के हेतु और उसके परिणाम में एकरूपता नहीं रह पाती है, लेकिन यह अपवादात्मक स्थिति ही है और अपवाद के आधार पर सामान्य नियम की प्रतिस्थापना नहीं की जा सकती है। जनसाधारण की मान्यता तो यह है कि बाह्य आचरण कर्ता की मनोदशाओं का ही प्रतिबिम्ब है।

यही कारण था कि जैन नैतिक विचारणा ने कार्य के नैतिक मूल्याङ्कन के लिए सैद्धान्तिक दृष्टि से जहाँ कर्ता के मानसिक हेतु का महत्त्व स्वीकार किया, वहाँ व्यावहारिक दृष्टि से कार्य के बाह्य परिणाम की अवहेलना भी नहीं की है। श्री सिन्हा भी लिखते हैं कि 'जैन-आचार दर्शन व्यक्तिनिष्ठ नैतिकता पर बल देते हुए भी कार्यों के परिणामों पर भी समुचित रूप से विचार करता है।"[२२] जैनाचार-दर्शन के अनुसार यदि कर्ता मात्र अपने उद्देश्य की शुद्धता की ओर ही दृष्टि रखता है और कर्म-परिणाम के सम्बन्ध में पूर्व से ही विचार नहीं करता है तो उसका वह कर्म अयतना (अविवेक) और प्रमाद के कारण अशुभता की कोटि में ही माना जाता है और साधक प्रायश्चित का पात्र बनता है। कर्म-परिणाम का अग्रावलोकन या पूर्व-विवेक जैन नैतिकता में आवश्यक तथ्य है।

वास्तविकता यह है कि नैतिक मूल्याङ्कन सामाजिक और वैयक्तिक इन दोनों दृष्टियों से किया जा सकता है, जब हम सामाजिक दृष्टि से किसी कर्म का नैतिक मूल्याङ्कन करते हैं तो हमें तथ्य परक दृष्टि से ही मूल्याङ्कन करना होता है और उस अवस्था में कार्य के परिणाम ही नैतिक निर्णय का विषय होंगे। लेकिन जब वैयक्तिक दृष्टि से किसी कर्म का नैतिक मूल्याङ्कन करते हैं, तो हमें आत्मपरक दृष्टि से मूल्याङ्कन करना होगा और उस अवस्था में कार्य के प्रेरक ही नैतिक निर्णय के विषय होंगे। जैनाचार-दर्शन की भाषा में यदि कहें तो फल के आधार पर कर्म का नैतिक मूल्याङ्कन करना यह व्यवहारदृष्टि है और कर्ता के हेतु के आधार पर कर्म का नैतिक मूल्याङ्कन करना यह निश्चयदृष्टि या परमार्थ दृष्टि है। जैनाचार-दर्शन के अनुसार दोनों ही अपने अपने क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण हैं और आचार दर्शन के समग्र स्वरूप की दृष्टि से किसी की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। लेकिन जहाँ तक आत्मनिष्ठ नैतिकता का प्रश्न है हमें यह स्वीकार करना होगा कि नैतिक निर्णय का विषय कोई आत्मपरक तथ्य ही हो सकता है, वस्तुपरक तथ्य नहीं हो सकता। आत्मनिष्ठ नैतिकता में निर्णय का विषय कर्ता की मानसिक अवस्थाएँ होती हैं, बाह्य घटनाएँ नहीं। पाश्चात्य विचारक मिल को भी अन्त में यह स्वीकार कर लेना पड़ा कि नैतिक निर्णय का विषय कर्ता द्वारा अभीप्सित फल (वाञ्छित परिणाम) है न कि बाह्य-घटित भौतिक परिणाम। लेकिन जैसे ही हम कर्ता के वाञ्छित परिणाम की बात करते हैं, किसी आन्तरिक तथ्य की ओर सङ्केत करते हैं और नैतिक निर्णय के विषय के रूप में बाह्य घटनाओं या फल के स्थान पर कर्म के मानसिक पक्ष को स्वीकार कर लेते हैं, वैसे ही हम कर्म के भौतिक पहलू से मानसिक पहलू की ओर बढ़ते हैं, हमारी विवेचना का केन्द्र कर्म के स्थान पर कर्ता बन जाता है। बाह्य घटित भौतिक परिणाम कर्ता के मानस के प्रतिबिम्ब अवश्य हैं, लेकिन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वे सदैव उसे यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित नहीं करते। अत: अभ्रान्त नैतिक निर्णय के लिए कर्म के चैतसिक पक्ष या कर्ता की मानसिक अवस्थाओं पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। जैन-आचार-दर्शन यह स्वीकार करता है कि नैतिक निर्णय का विषय कर्ता की मनोदशाएँ हैं, बाह्य परिणाम उसी अवस्था तक नैतिक निर्णय का विषय माने जा सकते हैं, जब तक कि वे कर्ता की मनोदशा को यथार्थ रूप में प्रतिबिम्बित करते हैं। लेकिन आचरण का मानसिक पक्ष भी इतना अधिक व्यापक है कि पाश्चात्य विचारकों ने उसके एक-एक पहलू को लेकर नैतिक निर्णय के विषय की दृष्टि से उस पर गहराई से विचार किया। इसके फलस्वरूप निम्न चार विभिन्न दृष्टिकोण सामने आते हैं —

(१) मिल का कहना था कि "कार्य की नैतिकता पूर्णत: अभिप्राय पर अर्थात् कर्ता जो कुछ करना चाहता है, उस पर निर्भर है।" मिल की दृष्टि में अभिप्राय (इरादा) से तात्पर्य कर्म के उस रूप से है, जिस रूप में कर्ता उसे करना चाहता है।[२३] मान लीजिए कोई व्यक्ति किसी व्यक्ति विशेष की हत्या करने के लिए उस सवारी गाड़ी को उलटना चाहता है, जिससे वह व्यक्ति यात्रा कर रहा है। उसका प्रयास सफल होता है और उस व्यक्ति के साथ-साथ और भी अनेकों यात्री मारे जाते हैं। इस घटना में मिल के अनुसार उस व्यक्ति को केवल एक व्यक्ति की हत्या में दोषी नहीं मानकर सभी की हत्या का दोषी माना जायेगा; क्योंकि वह गाड़ी को ही उलटना चाहता था।

(२) कांट के अनुसार नैतिक निर्णय का विषय मात्र कर्ता का सङ्कल्प है। यदि उपर्युक्त घटनाक्रम के सम्बन्ध में विचार करें तो कांट के अनुसार वह व्यक्ति केवल उस व्यक्ति विशेष की हत्या का दोषी होगा, न कि सभी की हत्या का, क्योंकि उसे केवल उसी व्यक्ति की मृत्यु अभीप्सित थी।

(३) इस सम्बन्ध में एक तीसरा दृष्टिकोण मार्टिन्यू का है, उनके अनुसार नैतिक निर्णय का विषय वह अभिप्रेरक है जिससे प्रेरित होकर कर्ता ने वह कार्य किया है। उपर्युक्त दृष्टान्त के आधार पर मार्टिन्यू के मत का विचार करें तो मार्टिन्यू कहेंगे कि यदि कर्ता उसकी हत्या वैयक्तिक विद्वेष या स्वार्थ से प्रेरित होकर करना चाहता था तो वह दोषी होगा, लेकिन यदि वह राष्ट्रभक्ति या लोकहित से प्रेरित होकर करना चाहता था तो वह निर्दोष ही माना जायेगा।

(४) चौथा दृष्टिकोण मैकन्जी का है, उनके अनुसार कर्म के सम्बन्ध में कर्ता का चरित्र ही नैतिक निर्णय का विषय है। मान लीजिए कोई व्यक्ति नशे में गोली चला देता है और उससे किसी की हत्या हो जाती है। सम्भव है कि कांट और मार्टिन्यू की धारणा में वह निर्दोष हो, लेकिन मैकन्जी की दृष्टि में तो वह अपने चरित्र की दूषितता के कारण दोषी माना जायेगा।

नीतिवेत्ताओं ने उपर्युक्त चारों मतों का परीक्षा की और उन्हें एकाङ्गी एवं दोषपूर्ण पाया है। यहाँ पर विस्तारभय से यह सब देना सम्भव नहीं है। इस विवेचना से हमारा तात्पर्य मात्र यह दिखा देना है कि किस प्रकार जैन विचारणा इन चारों विरोधी मतवादों के समन्वय के द्वारा उनकी एकाङ्गिता को दूरकर एक समग्र दृष्टिकोण प्रदान करती है।

जैन विचारणा में शुभत्व और अशुभत्व का निकटस्थ सम्बन्ध क्रमश: संवर और आस्रव से माना जा सकता है। हम कह सकते हैं कि जिससे आस्रव होकर कर्मबन्ध हो वह अशुभ है और जिससे संवर हो कर्म बंधन नहीं होता तो वह शुभ है। जैन विचारणा में आस्रव के पाँच कारण हैं— १. मिथ्यादृष्टि, २. कषाय, ३. अविरति, ४. प्रमाद और ५. योग। इसी प्रकार संवर के ५ कारण हैं— १. सम्यग्दृष्टि, २. अकषाय, ३. विरति, ४. अप्रमाद और ५. अयोग। पाश्चात्य विचारणा के १. सङ्कल्प, २. प्रेरक, ३. चरित्र और ४. अभिप्राय (इरादा) अपने लाक्षणिक अर्थों में निम्न प्रकार से इनके समानार्थक माने जा सकते हैं।

१. सङ्कल्प— १. दृष्टि — मिथ्यादृष्टि / सम्यग्दृष्टि
२. प्रेरक— २. कषाय (वासना)
३. चरित्र— ३. अविरति, ४. प्रमाद — दुश्चरित्र; विरति, अप्रमाद — सच्चरित्र
४. अभिप्राय—५. योग (मनोयोग)

वस्तुत: पाश्चात्य विचारणा के १. सङ्कल्प, २. प्रेरक, ३. चरित्र और ४. अभिप्राय: जैन दर्शन के आस्रव एवं संवर के ५ मूल कारणों के पर्यायवाची हैं और जैन दर्शन में शुभाशुभता का निर्णय उन पाँचों पर ही होता है। अत: हमें यह मानना पड़ेगा कि जैन दर्शन में पाश्चात्य विचारणा के ये चारों मतवाद अविरोधपूर्वक समन्वित हैं।

उपर्युक्त चार मतवादों के आधार पर यदि समालोच्य आचार दर्शनों की तुलना करें तो हम कह सकते हैं कि गीता का दृष्टिकोण कांट के सङ्कल्पवाद और बौद्ध दर्शन का दृष्टिकोण मार्टिन्यू के अभिप्रेरकवाद के अधिक निकट है। क्योंकि गीता के अनुसार नैतिक निर्णय का विषय कर्ता की व्यावसायिक बुद्धि को माना गया है, जो कि कांट के सङ्कल्प के निकट ही नहीं वरन् समानार्थक भी है। इसी प्रकार बौद्ध विचारणा में शुभाशुभता के निर्णय का आधार प्राणी की वासना (तृष्णा) को माना गया है। यही तृष्णा सारी जागतिक प्रवृत्तियों की प्रेरक है। इस प्रकार तृष्णा प्रेरक के समानार्थक है, अत: कहा जा सकता है कि बौद्ध दृष्टिकोण मार्टिन्यू के अधिक निकट है। जहाँ तक जैन दृष्टिकोण का प्रश्न है उसे किसी सीमा तक मैकेन्जी के चरित्रवाद के निकट माना जा सकता है, क्योंकि चरित्र शब्द में जो अर्थ-विस्तार है वह जैन समन्वयवादी दृष्टि के अनुकूल है, फिर भी इन विवेच्य आचार दर्शनों को किसी एक मतवाद के साथ बांध देना सङ्गत नहीं होगा, क्योंकि उनमें सभी विचारणाओं के तथ्य खोजे जा सकते हैं। गीता में काम और क्रोध के अभिप्रेरक और बौद्ध विचारणा की निराकार अविद्या भी नैतिक निर्णय के महत्त्वपूर्ण विषय हैं। वास्तविकता यह है कि भारतीय विचार दृष्टि समस्या के किसी एक पहलू को अन्य से अलग कर उस पर विचार नहीं करती वरन् सम्पूर्ण समस्या का उसके विभिन्न पहलुओं सहित विचार करती है। यही कारण था कि जब बौद्ध विचारकों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने बन्धन के कारण पर विचार किया तो अविद्या, तृष्णा आदि में से किसी एक को कारण नहीं माना, वरन् उनकी प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप में शृङ्खला खड़ी कर दी। जैन विचारकों ने जब आस्रव के कारण पर विचार किया तो केवल मिथ्यात्व या कषाय में से किसी एक पर बल नहीं दिया, अपितु मिथ्यात्व, कषाय, अविरति, प्रमाद और योग के पंचक को स्वीकार किया। यह सम्भव है कि किसी एक दृष्टि विशेष से विचार करते समय एक पक्ष को प्रमुखता दी गई हो, लेकिन दूसरे पक्षों को झुठलाया नहीं गया है।

सन्दर्भ :

१. नीतिशास्त्र की रूपरेखा, डॉ० रामनाथ शर्मा, मेरठ, पृ० ७५।
२. नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ७५।
३. नीतिशास्त्र की रूपरेखा, पृ० ७६।
४. मज्झिमनिकाय, सुत्त ५६।
५. सूत्रकृताङ्ग, २/६/२६-२७।
६. मा फलेषु कदाचन, मा कर्मफलहेतुर्भूः — गीता, २/४७।
७. कृपणाः फलहेतवः— गीता २/४९।
८. गीता रहस्य, बालगंगाधर तिलक, पृ० ४८१।
९. सङ्कल्पमूला हि सर्वेकामाः। — गीता शाङ्करभाष्य, गीताप्रेस गोरखपुर, ६/४।
१०. कामं जानामि ते मूलं सङ्कल्पान्त्वं हि जायसे।
न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि।।
— महाभारत, शान्तिपर्व, गीताप्रेस, १७७/२५।
११. गीता रहस्य, ३/२४ की टीका।
१२. अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा वा मारेउ। — समयसार २६२।
१३. ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि।— समयसार २६५।
१४. (अ) एस० के मैत्रा—दि ऐथिक्स ऑफ दि हिन्दूज, पृ० ३२१-३२३।
(ब) जे०एन०सिन्हा—इन्डियन फिलासफी, जैन फिलासफी।
१५. The Jain Ethics emphasises purity of motives as distinguished from consequences of action. It considers an action to be right if it is actuated by good intention (अभिसंधि) thought it leads to unhappiness to others. It considers an action to be wrong if it is actuated by bad intention though it leads to happiness of others.
-- *History of Indian philosophy.*
१६. Hence right and wrong are to be determined not by objective consequences but by the nature of the subjective intention of the agent.
-- *The Ethics of the Hindus P. 289.*
१७. युक्ताचरणस्य सतो रागद्याबशमन्तरेणाऽपि ।
नहि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ।।
— पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (अमृतचन्द्र), ४५।
१८. मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वे च खत्तिये ।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो ।। — धम्मपद, २९४।
१९. यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ।।— गीता, १८/१७।
२०. सूत्रकृताङ्ग, २/६/३२।
२१. मनस्यैकं वचस्यैकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
२२. The Jain Ethics stresses subjective morality though it gives due consideration to the consequences of actions.
--*History of Indian Philosophy.*
२३. टिप्पणी— जैन दर्शन में जिस प्रकार योग मानसिक और शारीरिक कृत्यता है उसी प्रकार मिल के अनुसार अभिप्राय भी कृत्यता है। अतः दोनों ही समान माने जा सकते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org